घोंसला नहीं, पिंजरा बन रहे घर

दीपक भारती

फरीदाबाद के जिस सेक्टर में मैं लगभग पिछले चार साल से रह रहा हूं, वहां कई तरह के घर हैं- हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी में पचास गज के छोटे घर, सौ गज और डेढ़ सौ गज के मध्यम आकार के घर और थोड़ी ही दूर पर उससे भी बड़े आकार वाले यानी ढाई सौ और पांच सौ गज के बड़े आकार वाले घर। सभी तरह के घरों में मैंने एक बात आमतौर पर एक जैसी देखी है कि लोग सुबह से लेकर शाम और रात तक, घरों के अंदर ज्यादा रहते हैं। अपने पड़ोसियों से भी महीनों बात न होना, सड़क और आसपास बहुत कम दिखना और कोई सामाजिक भूमिका न बनाना। एकबारगी तो लोगों को इतना सीमित दायरे में सालों साल देखकर लगता है कि जैसे वे सौ सालों से ऐसे ही रहते आये हैं और आगे भी सालों-साल यही सिलसिला चलता रहेगा। कभी किसी ने कहा था कि घर को ज्यादा से ज्यादा आदमी का घोंसला होना चाहिए, पिंजरा नहीं, लेकिन आज के हालात में तमाम लोगों के लिए चाहे ख़ुशी से या बेमन से, घर पिंजरे जैसे ही बन चुके हैं।

मॉब लिंचिंग की गिरफ़्त

बहुत ज्यादा समय नहीं बीता, जब लोग पब्लिक प्लेस पर बात करने से नहीं डरते थे। दरअसल 21वीं सदी के शुरुआती दशक तक, जब काम करने की जगहों पर दलितों, महिलाओं और हाशिये के दूसरे समूहों की भागीदारी बढ़ रही थी तो सामंती सोच वाले लोग भी लोकतंत्र को स्वीकार रहे थे, बदल रहे थे। ट्रेनों में, मेट्रो में, दफ़्तरों में, चाय की दुकानों जैसी जगहों पर लोग एक-दूसरे से बात कर सकते थे और करते थे। सामंती सोच वाले लोग सार्वजनिक जगहों पर अकेले पड़ जाते थे और अपने जैसी सोच वाले किसी आदमी से धीमी आवाज में या फुसफुसाकर बात करते थे। अब ऐसा नहीं है। 2014 के बाद मॉब लिंचिंग की घटनाएं होने लगीं। अब यह हो रहा है कि अगर आप किसी अकेले आदमी की बात से सहमत नहीं हैं, तो पहले उसे अजनबी बना दीजिए, फिर लोगों को उकसा कर उसे पीटना शुरू कर दीजिए। कई मामलों में तो लोगों ने पीट-पीटकर अपने जैसे ही दूसरे आदमी की जान तक ले ली। अब जाति, धर्म से परे इंसाानियत की बात करने वाले लोग डरकर रहने लगे हैं। लेकिन खुलेआम धार्मिक, जातिगत नफ़रत की बात करने वाले बेख़ौफ़ हैं।

निकलना घर से काम पर और...

पाश की कविता याद आती है – 'निकलना घर से काम पर और काम से निकलकर घर जाना।' फरीदाबाद, इंडस्ट्रियल शहर है, ज्यादातर लोग छोटे-बड़े उद्योगों में काम करते हैं, अपनी इंडस्ट्री चलाने वाले लोग भी हैं और लोगों को काम देने वाले भी। तो आजकल जितने लोग काम पर जाते हैं, लगभग उतने ही घरों में भी दिखते हैं, वर्क फ्रॉम होम करने वाले, नए काम शुरू करने वाले और ऐसे ही तमाम लोग। सुबह-शाम थोड़ी देर के लिए आप उन्हें पार्क में भले देख लें, मगर उसके अलावा घर और सिर्फ़ घर। सामाजिक कारणों के अलावा इसका राजनीतिक निहितार्थ भी है – सरकार भी यही चाहती है कि तमाम लोग दिन- रात घर में बैठकर टीवी देखें, नेट चलाएं और अपने फोन में लगे रहें। एक समय जो जगह अख़बार की थी और जो बाद में टीवी-न्यूज चैनलों ने ले ली थी, वह अब मोबाइल की रीलों ने ले ली है, घंटों उन्हें ही देखना, हंसना और फिर शेयर करना, इसी में लोगों का दिन गुज़रता है। सोशल मीडिया- व्हाट्सअप, फेसबुक और इंस्टग्राम आदि पर रोज़ इतना ज्ञान आ रहा है और बांटा जा रहा है कि लोगों को एहसास ही नहीं होता कि समाज और सामाजिक भूमिका नाम की भी कोई चीज़ होती है।

बेरोज़गारी के घेरे में

इंस्टीटयूट फॉर ह्यूमन डेवलपमेंट और अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) द्वारा संयुक्त रूप से तैयार की गई इंडिया एम्प्लॉयमेंट रिपोर्ट, 2024 के मुताबिक, भारत में काम करने लायक लोगों की आबादी जो 2011 में 61 फीसदी थी, वह 2021 में 64 फीसदी हो चुकी है। वहीं दूसरी ओर आर्थिक गतिविधियों में शामिल युवाओं की तादाद लगातार घट रही है। इसके आगे आंकड़े और भी भयावह हैं। आईएलओ की ही रिपोर्ट कहती है कि बेरोज़गार भारतीयों में 83 फीसदी युवा लोग हैं, वे युवा जिन्होंने कम से कम दसवीं तक पढ़ाई की है। करोड़ों ऐसे युवा जो काम करने लायक हैं, लेकिन कोरोना की बाद की स्थितियों में काम नहीं पा रहे हैं या उन्हें ऐसा काम मिल रहा है, जो उनके स्तर के अनुकूल नहीं है। आमतौर पर अब हर बड़े शहर में कुछ जगहें ऐसी हैं, जहां काम तलाशने वाले दिहाड़ी मजदूर, मिस्त्री, पुताई करने वाले जैसे मेहनतकश लोग मिल जाते हैं लेकिन पढ़े-लिखे लोगों में जिन्होंने कोविड-काल में नौकरी गंवा दी, उनमें से करीब आधे लोग अभी भी मनचाहा काम नहीं कर पा रहे हैं। यही वे लोग हैं, जो हमें दिन-रात घरों में नजर आते हैं।

ताक़त और पैसे की अश्लीलता

कोरोना का दौर और उसके बाद एक लंबा समय ऐसा गुजरा है, जिसने तमाम लोगों को बेरोज़गार कर दिया और बड़ी तादाद में लोगों को घर से ही काम करने की सहूलियत मिली। यह एक ऐसी जटिल चीज़ थी, जिसकी ज्यादातर लोगों को आदत नहीं थी, ख़ासकर गांवों और क़स्बाई पृष्ठभूमि से जुड़े लोगों को। लेकिन जब जीवन ही ख़तरे में हो तो और कोई दूसरा रास्ता नहीं होता। तो उस वक्त सोशल डिस्टेंस का जो सिद्धांत लागू किया गया, उसे बाद में ख़ासकर उच्च वर्ग के लोगों ने दिल से अपना लिया। बुजुर्गों से मिली प्रॉपर्टी, पीढ़ियों से चली आ रही जाति-व्यवस्था, केंद्र और कई राज्यों में चल रही भाजपा सरकारों की सामंती सोच ने इस वर्ग को एक नई ताक़त, नई सोच दी। पिछले तीन-चार सालों में एक बड़े वर्ग की सैलरी जहां कम हुई और उसकी सारी बचत ख़त्म हो गई, वहीं एक वर्ग ऐसा भी रहा, जिसके ऊपर तालाबंदी या उसके बाद की जटिल स्थितियों का ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ा। उनके यहां कुछ समय के लिए काम वाली बाइयों का आना ज़रूर बंद हुआ और कुछ दूसरी तरह की दिक़्क़तें भी आईं, लेकिन बाद में उनके लिए सब सामान्य, या यूं कहें कि पहले से बेहतर होता चला गया। कुछ समय पहले अख़बार के बिजनेस पेज पर एक रिपोर्ट आई कि जिनके पास पैसा है, वे अब दस लाख से ज्यादा वाली गाड़ियां खरीद रहे हैं, छोटी गाड़ियों की बिक्री कम हुई है और बड़ी गाड़ियों की बिक्री बढ़ गई है। इसके पीछे तर्क दिया गया कि कोरोना के भयावह दौर से गुज़रने के बाद वह वर्ग, जिसके पास पैसा है, वह उसे ख़र्च करने में संकोच नहीं कर रहा। या ये कहिये कि अश्लीलता की हद तक जाकर ख़र्च रहा है।

वहीं दूसरी तरफ़ घरों में काम करने वाली लड़कियों और महिलाओं, जिन्हें आमतौर पर 'कामवाली' या 'बाई' कहा जाता है, सोसाइटी के गेट पर खड़े रहने वाले गार्डों और ऐसे तमाम मेहनतकशों की हालत उस दौर में ऐसी ख़राब हुई कि आज तक संभल नहीं सकी। झुग्गी-झोपड़ियों या बिना बुनियादी सुविधाओं वाली कॉलोनियों में रहने वाली बड़ी आबादी की सालों की बचत कोरोना के बाद के दौर में ख़त्म हो गई। इस स्थिति ने उन्हें इस हालत में लाकर खड़ा कर दिया, जिसमें उन्हें रोज़ी-रोटी के लिए ज्यादा घंटे काम भी करना है और बचत भी करनी है क्योंकि बच्चों की अच्छी पढ़ाई और अच्छे इलाज के लिए कुछ पैसा तो रहना चाहिए। सरकार तो 80 करोड़ लोगों को हर महीने पांच किलो राशन फ्री देकर अपनी ज़िम्मेदारी पूरी मान चुकी है और उसका इरादा ऐसा नहीं दिखता कि मेहनतकश लोग 21वीं सदी के इस भारत में सम्मानजनक तरीक़े से जी सकें, सिर उठाकर चल सकें।

अंग्रेजों के दौर से ज्यादा असमानता आज

प्रधानमंत्री भले ही देश को तीसरी आर्थिक शक्ति बनाने का सब्ज़बाग़ दिखाकर खुश होते रहें, आंकड़ें बता रहे हैं कि आज के भारत में अमीर और गरीब के बीच असमानता का जो स्तर है, वह अंग्रेजी शासन के दौर में भी नहीं था। विश्व असमानता रिपोर्ट कई सालों से यह लगातार दर्ज करती है कि भारत में पांच-दस फ़ीसदी अरबपतियों के पास देश की 90 फीसदी से ज्यादा की संपत्ति है। बाक़ी के बचे 90 फीसदी लोगों के पास मुश्किल से एक फ़ीसदी संपत्ति है। सर्वे यह भी बताते हैं कि कोरोना काल में जितने लोग बेरोज़गार हुए, उसके आधे भी बाद में काम नहीं पा सके। सेंटर फॉर मानिटरिंग इंडियन इकॉनमी के मुताबिक जून 2024 में भारत में बेरोज़गारी दर 9.2 फ़ीसदी तक पहुंच गई थी। कोरोना से पहले 2019 में यह दर 5.27 थी जो 2020 में बढ़कर आठ फीसदी हो गई और उसके बाद से बढ़ती जा रही है। 2019 से लगभग दस साल पहले यानी 2008 में यह पांच फ़ीसदी से कुछ ज्यादा रहती थी और लगभग स्थिर थी। बड़ी विडंबना यह है कि इस दौर में जो माहौल बदला है, उसमें काम देने वाले ड्राइविंग सीट पर हैं और काम मांगने वाले मजबूर। काम की स्थितियां

पहले भी बहुत बेहतर नहीं थीं लेकिन कोरोना के बाद और ख़राब हुई हैं। काम करने की जगहों पर जाति और धर्म का भेद साफ़ नज़र आता है।

(लेखक स्वतंत्र पत्रकार हैं)